

## 15. सातवें दशक की कहानी

किसी भी साहित्यिक विधा के लिए एक दशक की अवधि महत्त्वपूर्ण हो सकती है और ऐसी भी जिसका नोटिस लेना ज़रूरी न हो। कोई दशक अगर रचनात्मक हलचलों से भरा हुआ हो और उसमें उच्चकोटि का कृतित्व रचा गया हो ता उस दशक के कृतित्व को एक अलग इकाई मानकर जाना—परखा जाना उचित ही है। पर, काल—प्रवाह में हरेक दशक की एक अलग इकाई और वैशिष्ट्य बने ही, यह ज़रूरी नहीं। एक दशक में या 15-20 वर्षों की अवधि में लिखित साहित्य का स्तर ऐसा भी हो सकता है, जिसमें पुरानी परम्परागत प्रवृत्तियों का मात्र पिष्टपेषण हो या जिसमें निहायत सामान्य और औसत स्थितियों का चित्रण हो। दरअसल 'दशक' को समीक्षा के आधार रूप में मानना न मानना एक सापेक्ष प्रश्न है, मात्र सुविधा का प्रश्न नहीं। 'दशक' को आधार मानकर किसी रचना—प्रवृत्ति का विश्लेषण में जुटने का कारण केवल सुविधापरकता नहीं है, किसी दशक—विशेष का विशिष्ट चरित्र (जो उसकी एक अलग इकाई और पहचान बनाता है) इस प्रकार के विश्लेषण—मूल्यांकन को स्वयं उकसाता है। सातवें दशक की कहानी को एक अलग इकाई और आधार के रूप में ग्रहण करने के पीछे हमारा यह विश्वास ही है कि इस दशक का एक विशिष्ट चरित्र है।

सातवें दशक की कहानी अपनी मूल प्रकृति में पूर्व दशक की कहानी से भिन्न है। यह भिन्नता कहानी के ऊपरी स्वरूप तक सीमित न होकर, कहानी के नये धरातलों पर प्रतिफलित होने वाली तात्त्विक भिन्नता है। इस कहानी ने कहानी की पुरानी, परम्परागत धारणा को चुनौती दी है और उसे नये अर्थ, नये विन्यास में ग्रहण किया है। संवेदना, दृष्टिकोण और मानसिकता के धरातलों पर इस कहानी में परिवर्तन को रेखांकित किया जा सकता है। नयी कहानी में मूल्य स्तर पर सम्पूर्ण मोहभंग नहीं हो सका था, हाँ नैतिक आस्थाएं और विश्वास अवश्य कुछ ढीले हुए थे। आदर्शों को सीधे रूप में न सही, गुंफित रूप में रखने की प्रवृत्ति अब भी थी जो अक्सर कहानियों के अन्त में दिख जाती थी। नये कहानीकार स्थितियों के यथार्थ से परिचित तो थे और उसका उन्होंने चित्रण भी किया पर कहानियों के अन्त तक पहुंचते—पहुंचते वे यथार्थ स्थितियों को सम्भाल नहीं पाते थे और उन्हें अपनी मूल्याग्रही, आदर्शपरक दृष्टि से मंडित कर निष्कर्ष देने लग जाते थे। इससे यथार्थ की उभरती हुई संवेदना पराजित होने लग जाती थी। 'अनुभूति की प्रामाणिकता' और 'भोगा हुआ यथार्थ' के दावे बहुत दूर तक इन कहानीकारों की मदद नहीं कर पाते थे। पर सातवें दशक के शुरु होने के साथ इन नयी सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक स्थितियां उभर आईं जिनके कारण

परम्परावादी मूल्य—दांचा चरमरा गया। इससे कहानी संरचना का पुराना सांचा भी टूट गया। इन कहानीकारों ने कहानी को छद्म मूल्य बोध से (जो अतीत का मूल्य मोह ही था) से निजात दिलाई यानी ऐसे अतीत मूल्य जिन्हें हम आदतन कन्धे पर लादे पिछला—पूरा एक दशक भर ढोते रहे थे इस आशा से कि शायद वे हमारी ज़िन्दगी में कहीं काम आ सकें, उनका हमारी ज़िन्दगी से कोई नाता न रहा। इसके उल्ट हुआ यह कि स्थितियां बद से बदतर होती गईं और ये अतीत की चीज़ बनते गये। सातवें दशक के कथाकार ने इन अतीत मूल्यों को एकवारगी तिलांजली दे दी और वह जीवन स्थितियों के यथार्थ को समझने में प्रवृत्त हुआ। इस दशक की कहानी में यथार्थ का स्वरूप इतना सरल और एक सूत्रीय नहीं है कि आसानी से कोई व्याख्या या परिभाषा दी जा सके। इस दशक के कथाकार के लिए अपने समय और समाज की स्थितियों का तलख यथार्थ सब से बड़ी सच्चाई बना जिसका सामना करना उसके लिए ज़रूरी हो गया। इस तरह का सामना करने के गस्ते में जो भी मूल्य—मुखौटे और कवच आड़े आ सकते थे, उसने उन्हें निर्मम होकर उतार फेंका। यह इन कहानीकारों की परंपरित मूल्यों के प्रति विरक्ति, वितृष्णा या लापरवाही की मुद्रा थी। निश्चय ही यह अतीत से, अतीत मूल्यों से मुक्ति की शुरुआत थी। पर यह 'मूल्य' मात्र से या मूल्यवन्ता से विच्छेद नहीं था। यह वर्तमान की घिनौनी, क्रूर और भयावह स्थितियों के प्रसंग में मूल्यों की नये सिरे से जांच—पड़ताल और परीक्षण की दृष्टि थी।

सातवें दशक के प्रारंभ में (सन् 1961) जब काशीनाथ सिंह की कहानी 'सुख' प्रकाशित हुई तो इसे पढ़कर प्रबुद्ध पाठकों, कहानीकारों और आलोचकों ने विभिन्न प्रतिक्रियाएं व्यक्त की थीं, और इसे एक अलग तरह की कहानी माना था। इससे संवेदना की बनावट में आधे बदलाव को भी तब रेखांकित किया गया था। आज भी जब हम यह कहानी पढ़ते हैं तो 'नयी कहानी' से अलग इसकी पहचान अनेक दृष्टि—बिन्दुओं के धगतल पर हमारे सामने प्रत्यक्ष होने लगती है। सबसे पहले ध्यान जाता है इसके कौमिक कथात्मक विधान पर। सुरेन्द्र चौधरी के शब्दों में इसे उपहासास्पद और कल्पना विरूप माध्यम का उपयोग भी कह सकते हैं जो इस कहानी में 'एक खास रचनात्मक अनिवार्यता से हुआ है।'<sup>1</sup> इस माध्यम में अपने अनुभव से अलग होकर उसे तटस्थ और निस्संग रूप में देखने और पड़तालने का गुण आ जाता है। सीधे—सीधे कथ्य निरूपण की पद्धति पीछे छूट जाती है। एक दृश्य से अकस्मात् स्फूर्त हो जाने वाली उल्लासपूर्ण मनोदशा के साथ—साथ, इस कहानी में, आत्म—निर्वासन की त्रासदी उभरने लगती है। तारबाबू के रूप में सारी ज़िन्दगी विताने के बाद भोला बाबू अवकाश ग्रहण करते हैं और एक दिन अचानक सूरज को पहली बार देखते हैं। सूरज की

किरण के स्पर्श से उन्हें सभी कुछ—व्यक्तित्व से परिवेश तक बदला और रूपान्तरित हुआ सा लगता। वे सोचते हैं: 'उनसे कोई गांव नहीं छूटा। शहर नहीं छूटा, लेकिन यह सूरज अब तक कहां था? यह शाम आखिर किधर थी? आज वे क्या देख रहे हैं?' सुख का यह एहसास करुण और त्रासदायी है। उनके जीवन की यह कितनी बड़ी विडम्बना है कि वे अपनी दफ्तरी जिन्दगी के दौरान इन सामान्य दृश्यों को कभी देख न पाए। उनके जीवन की यात्रिकता, जड़ता और आत्मनिर्वासन कितने बड़े व्यंग्य के रूप में यहां उभर आया है। कहानी के अन्त का यह वाक्य 'रेने वालों में सब से ऊंचा और दुःखी स्वर भोला बाबू का था' स्थिति के विद्रूप और विरोधाभास तथा आत्मनिर्वासन के आत्मगत, भावनात्मक रूप को उभार देता है।

सातवें दशक के कहानीकारों ने सम्बन्धों में प्रतिफलित हो रहे परिवर्तनों को गहराई से देखना—पड़तालना शुरू किया था। इससे सम्बन्धों के प्रचलित नुस्खे चटखने लगे और इनके बंधे—बंधाए ढांचों में दरारें पड़ गयीं। इससे नयी मानसिकता निर्मित हुई जिससे सम्बन्धों के स्थायित्व और शाश्वतता की 'मिथ' टूटी। नये जीवन यथार्थ और मूल्यगत संकट के परिप्रेक्ष्य में इन कहानीकारों ने बदली हुई जीवन स्थितियों और सम्बन्धों में व्याप्त तनाव, विघटन और जटिलता को देखा और पहचाना और उन्हें कभी आत्मगत, वस्तुगत स्तरों पर तो कभी दोनों के द्वंद्व के रूप में अभिव्यक्त करने का प्रयत्न किया। इन कहानियों को विघटित और तनाव—भरे सम्बन्धों का एक छोर आधुनिक व्यक्ति की अस्तित्व चेतना से जुड़ गया तो दूसरा सामाजिक, आर्थिक चेतना से। ज्ञानरंजन की कहानी 'शेष होते हुए' में सम्बन्धों के बदलाव और तनाव को, विघटित स्थितियों के संदर्भ में इस ढंग से व्यक्त किया गया है कि मनुष्य की वर्तमान स्थिति के प्रति भरपूर संकेत प्राप्त होने लगता है: 'मां गुमसुम रहती है और पिता चिड़चिड़े, पिता से टीनू तक सब अज्ञात परिणाम वाले भविष्य के लिए वर्तमान की स्थितियां झेल रहे हैं।' बदली हुई स्थितियां पारिवारिक संस्था को कायम रखने वाले जातीय अवशेषों और संस्कारों को चुनौती देती प्रतीत होती हैं और इससे सम्बन्धों का परम्परागत ढांचा अटपटा—सा लगने लगता है। कहानीकार नयी बदली हुई स्थितियों के तर्क के आधार पर ही परम्परा से चले आ रहे सम्बन्धों की पुनर्व्याख्या या पुनर्परीक्षा करता है और नये अभिप्रायों की ओर संकेत करता है इसे महीपसिंह की कहानी 'कील' में भी देखा जा सकता है। इसमें बदले हुए सम्बन्धों और उन सम्बन्धों में झांक रहे आधुनिक व्यक्ति के स्वभाव और व्यवहार को देखा गया है। मोना के चरित्र की जटिलता का कारण है उसके डैडी जो उससे कहते रहते हैं कि वह असाधारण है। डैडी उसे असाधारणता का खोल इसलिए ओढ़ते हैं कि वह किसी

लड़के को पसन्द करने की मनःस्थिति में आ ही न सके। उनके ऐसा चाहने के पीछे एक जटिल चरित्र है। लेकिन मोना इस ग्रंथ से मुक्त होकर जीना चाहती है और इसकी गिरफ्त से वह तब छूटती है जब उसे एहसास होता है कि उसके व्यक्तित्व में कोई खास बात नहीं। जटिल और तनावपूर्ण सम्बन्धों को देखने की यह एक सहज दृष्टि है जो इस कहानी की रचनाशीलता में एक अंतरंग तत्व के रूप में अवस्थित है। रामदरश मिश्र की कहानी 'अनिर्णयों की बीच एक निर्णय' कथन-स्फीति के बावजूद बाह्य परिवेश से टकराती अन्तःप्रकृति को बखूबी चित्रित कर सकती है। सभी तरह के घटिया लोगों द्वारा घिरा हुआ व्यक्ति अपने संतुलन को कैसे बनाए रखे—अपनी प्रकृति को खो दे या पागल हो जाए? आज के भ्रष्ट परिवेश में क्या विकल्प बच रहा है? कहानी के अन्त में कहानी का 'मैं' अपनी अन्तःप्रकृति को झुठलाता हुआ सहाय से जोर—जोर से बात करने लग जाता है। इस कहानी में केवल सम्बन्धों का नहीं, अन्तःप्रकृति के विघटन का भी निरूपण किया गया है। गिरिराज किशोर की कहानी 'रिश्ता' मानवीय रिश्ते के विघटन की कहानी है। मनकी और गिरधारी में मां—पुत्र का रिश्ता है भी और नहीं भी है। मां और पुत्र के वात्सल्य की पूरी 'मिथ' यहाँ गायब है। सम्बन्धों में न कहीं कृत्रिमता है, न औपचारिकता। एक बेलौस स्थिति है जिसमें सम्बन्ध धारणा के प्रचलित नुस्खे काम नहीं आते। सम्बन्धों की रोगात्मक के वजाय उनकी चीर—फाड़ करने वाली निरावेग और तटस्थ दृष्टि इन कहानियों में देखी जा सकती है। यही बात यौन सम्बन्धों की जटिलता और उनके बदलाव का बोध जगाने वाली कहानियों के बारे में भी कही जा सकती है। कृष्णबलदेव वैद ने नयी कहानी के दौर में यौन स्थितियों का चित्रण—निरूपण करते हुए, कुछ हद तक अरोमानी दृष्टि का परिचय दिया था। यह प्रवृत्ति सातवें दशक में और आगे बढ़ी, महेन्द्र भल्ला जैसे लेखकों के बावजूद जिन्होंने सैक्स एडवेंचर जैसे बचकाने और किशोरपरक लटकों का इस्तेमाल अपनी कहानियों में किया। इस दृष्टि से सान्त्वना निगम और निरुपमा सेवती की कहानियां देखी जा सकती हैं। सान्त्वना निगम की कहानी 'बीतते हुए' में सम्बन्धों की पीड़ा का रोमानी हैंग ओवर नहीं है। इस कहानी में लगावहीन सम्बन्ध या लवलैस सैक्स अथवा भावुकताविहीन होते जाने की प्रक्रिया मौजूद है। निरुपमा सेवती की कहानी 'टूच्चा' में भी सम्बन्धों में प्रतिफलित हो रहे आज के आदमी को पकड़ने की कोशिश झलकती है। जीवनगत स्थितियां प्रेम—सम्बन्धों को एक सुविधा से अधिक अहमियत नहीं देती। पर प्रेम—सम्बन्धों में व्याप्त यह सुविधापरकता इस कहानी में किसी गहरी या बुनियादी छटपटाहट द्वारा सन्दर्भित नहीं है।

इस दशक की कहानी की एक प्रवृत्ति यथार्थ के अभ्यन्तरीकरण की है। कहानीकार यथार्थ के प्रति मात्र प्रतिक्रिया नहीं करता बल्कि यथार्थ को वह अपनी भीतरी दुनिया में रूपान्तरित करके सृजित करता है। पर अभ्यन्तरीकरण और प्रक्षेपण एक बात नहीं है। दूधनाथसिंह बाहरी स्थितियों को भीतर प्रक्षेपित करते हैं, अभ्यन्तरीकृत नहीं करते। उनकी कहानियों में कृत्रिमता और कारीगरी छिपाये नहीं छिपी है। काशीनाथ सिंह की कहानियों में अभ्यन्तरीकरण की पूरी प्रक्रिया मौजूद है। काशीनाथ सिंह की कहानियों में यथार्थ का यह अभ्यन्तरीकरण मानव-स्थितियों को उजागर करने वाला है। उनकी कहानी 'अपने लोग' इस दृष्टि से महत्वपूर्ण है। इस कहानी में मध्यवर्ग के बाबू की मनःस्थिति का बड़ी बेबाकी से चित्रण किया गया है। वह जानता है कि उसके भीतर की आवाज़ मर चुकी है। वह अपनी अन्तर्त्मा और स्वाभिमान को जगाना भी चाहता है:

'दासू, मेरे भीतर कोई चीज़ है जो मर गयी है।'

'और तुम क्या चाहते हो।'

'मैं चाहता हूँ कि वह ज़िन्दा हो।'

पर, वह चीज़ ज़िन्दा नहीं हो पाती। वह भीतर से इतना पोला और पिलपिला, जड़ और स्बन्दनहीन हो चुका है कि न उसकी अन्तर्त्मा जगती है और न स्वाभिमान। घिसटते हुए, घिघियाते हुए, अपमानित होते हुए, ज़िन्दगी बिताने की उसकी आदत उसकी स्थिति को निरीह और दयनीय बना देती है। दफ्तरी बाबू की यह स्थिति एक आम स्थिति है, लेकिन लेखक इसे आधुनिक आदमी की अस्तित्व स्थिति के रूप में अभिव्यक्त करने में सफल रहा है। धर्मेन्द्र गुप्त की कहानी 'अपंग संज्ञा' एक ऐसे व्यक्ति की कहानी है जो अपने परिवेश की भ्रष्टता के विरुद्ध लड़ता हुआ पाता है कि वह अपनी मान्यताओं के विरुद्ध व्यवहार करने पर मजबूर है। उसे लगता है वह स्वेच्छा से कुछ भी करने में समर्थ नहीं और अपने ही बुने हुए जाल में स्वयं उलझ कर रह गया है। वह दूसरों को न्याय दिलाने की खातिर अपनी निजता या अस्मिता खो बैठता है। एक गहरे स्याही रंग से उसकी चेतना आक्रांत हो जाती है। उसकी यह स्थिति हर व्यक्ति की अपंग स्थिति का बोध कराने में समर्थ रही है। रामनारायण शुक्ल की कहानी 'सहाय' में व्यक्ति और व्यवस्था की टकराहट में इस स्थिति का बोध कराया गया है। व्यवस्था ने हमें इस कदर जकड़ लिया है कि हम बही सब करने के लिए बाध्य हैं जिनके लिए हमारा मन स्वीकृति नहीं देता है।' यह कहानी मूल्यों के विघटन और मोहभंग को,

स्मृतियों के विधान द्वारा दूर तक गुंजा देती है। व्यवस्था से संघर्ष करने की बात सोच के स्तरों पर कहीं हैं जरूर पर जो परिस्थितियां हैं उनमें यह सोच भी असंगत सी लगती है। बदीउज्जमां की कहानी 'चौथा ब्राह्मण' भयावह मानवीय स्थिति को सहज ढंग से उभार सकी है: 'मेरी ट्रेजेडी यह है कि मैं अपने उन्माद को महसूस भी करता हूं, लेकिन खुद को इससे मुक्त नहीं कर सकता। शायद यह ट्रेजेडी सिर्फ मेरी ही नहीं, आज के हर इंसान की है।...मैं जानता हूं, इस दौड़ का कोई अन्त नहीं है। लेकिन पंचतंत्र की एक कथा के चौथे ब्राह्मण की तरह हम तांबा, चांदी और सोने की खानों को छोड़ कर हीरों की खान की तलाश में भागे जा रहे हैं और, हमारे सिरों पर एक-एक चर्खी घूम रही है।' दरअसल चौथा ब्राह्मण अपने सिर पर घूमती चर्खी के साथ आज हम सब की सब से बड़ी वास्तविकता है। अपने स्वत्व की पहचान के लिए इस वास्तविकता की पहचान बहुत जरूरी है। इस स्वत्व को पहचानने की छटपटाहट प्रमोद सिन्हा की कहानी 'बैठा आदमी' में भी है। इसमें अकेलेपन और निष्क्रियता की स्थितियों को अस्तित्व के एक बुनियादी प्रश्न के रूप में उठाया गया है। स्थितियां जैसी हैं, उनमें आदमी निःसहाय और निहत्था होता जाने पर मजबूर है। उसे लगता है अकेलेपन उसे टुकड़ों में बांट रहा है और हरेक टुकड़ा सम्पूर्ण आंगिक-रचना का विरोधी हो उठा है और एक स्वतंत्र इकाई के रूप में पनप रहा है: 'कारण सोच रहा था कि अकेले रह कर उसने अब तक लगातार आत्महत्या की है। ऐसी आत्महत्या जिसमें मरने की योजना कई टुकड़ों में सम्बद्ध हो और हर बार कम-से-कम अपनी ही किए पर सोच जा सके।' एक चीख उससे कुछ नहीं हो पाता निदाल होने के सिवा।

सातवें दशक में मानव-स्थिति के चित्रण की भरमार रही है। कहीं यह चित्रण मूल्यों का निषेध करके किया गया है (अकहानी) तो कहीं मूल्यों के प्रति सचेतनता अर्जित करके (सचेतन कहानी)। कथ्यहीनता और कथ्य सम्पन्नता, मूल्य निषेध और मूल्य स्वीकार के अन्तर के बावजूद ये कहानीकार मानव-स्थिति को अस्तित्ववादी अर्थ और सीमा में ही ग्रहण कर सके, उसे मानसिक चेतना के स्तरों से आगे नहीं ले जा सके। गंगाप्रसाद विमल, दूधनाथ सिंह, महीप सिंह, विजयमोहन सिंह की कहानियों में वस्तु-निरूपण से लेकर स्थिति-संयोजन तक कुछ भी समझ न होने के बावजूद इनकी कहानियों में मानव-स्थिति को मानसिक और आत्मिक स्तरों पर ही ग्रहण किया गया है। इस दशक में आगे चलकर मानवीय सरोकारों को सामाजिक और आर्थिक चेतना के स्तरों पर, संघर्षशीलता तथा वैचारिक सक्रियता से अभिव्यक्त किया गया है। इस दृष्टि से शैलेष मटियानी की कहानियों में संस्कारबद्ध

मानसिकता और आर्थिक दुर्गवस्था का अन्तर्गवलम्बित विधान देखा जा सकता है। उनकी कहानी 'महाभोज' में निपट अभावावस्था में संस्कारों द्वारा प्रताड़ित शिवरती की मनःस्थिति का चित्रण हुआ है। मधुकर सिंह की कहानियों में संघर्षशील और विद्रोहात्मक मानसिकता के विविध चित्र मिलते हैं। संघर्ष और विद्रोह के भाव उस वस्तु में ही अन्तर्भुक्त हैं जिसे वे अपनी कहानियों के कथ्य के रूप में उठाते हैं। वे जिस सामाजिक यथार्थ को कथात्मक वस्तु के आधार रूप में ग्रहण करते हैं, उसका नियोजन वे इस ढंग से करते हैं कि विद्रोह की चेतना कहानी के स्तरों पर फैलाने लगती है। इन कहानियों में रचनात्मक सरोकार बहुत साफ झलकता है। 'भाई का जख्म' कहानी की पंक्तियाँ हैं : 'आजादी का वाइस साल क्या इतना बौना है कि आदमी को आदमी न समझने वाले से अब तक लड़ा नहीं जा सका है।' इन पंक्तियों से स्पष्ट है कि ये कहानियाँ यथार्थ जीवन—प्रसंगों के संदर्भ में रची गयी हैं और मानवीय सार्थकता की पहचान में जुटी हुई हैं। इनमें कहानीकार स्थिति तक सीमित नहीं रहा है बल्कि स्थिति का अतिक्रमण करने वाली दृष्टि का परिचय भी देता है, स्थिति में अन्तर्निहित व्यंग्य को, विडम्बना को, प्रतिरोध और संघर्ष को भी उभार देता है।

सातवें दशक की कहानी में मानवीय अस्तित्व की यातना का एक महत्त्वपूर्ण संदर्भ राजनीतिक है या अन्य कोई तंत्र या व्यवस्था। ऐसी कहानियों का स्वर व्यवस्था—विरोधी है। आक्रोश या विद्रोह ऐसी कहानियों में मुखर है। ये कहानियाँ, अधिकतर, तात्कालिक उत्तेजना में लिखी गई हैं। इनमें प्रजातंत्र या व्यवस्था के प्रति चालू किस्म का आक्रोश उड़ेलने का ढंग ज्यादातर, अपनाया गया है। कहीं—कहीं (दूधनाथ सिंह की कहानियों में) राजनीतिक बोध को इस कदर अमूर्त कर दिया गया है कि कुछ भी अटकल लगाने की सुविधा ली जा सकती है। इन कहानियों के सम्बन्ध में सब से बड़ा खतरा यह है कि ये कहानियाँ प्रतिक्रिया (प्रतिक्रियावादी नहीं) कहानियाँ या अखबार का इस्तेमाल करने वाली कहानियाँ बन कर न रह जाएँ जब कि ज़रूरी यह है कि इनमें संवेदनात्मकता के साथ—साथ बेचैन कर देने वाला विचारतंत्र हो। अशोक अग्रवाल की कहानी 'प्रजातंत्र' तात्कालिक उत्तेजना में रचित होने के कारण व्यवस्था या प्रजातंत्र के प्रति आक्रोश उड़ेलने वाली कहानी बन गई है। इसी तरह रमेश उपाध्याय की कहानी 'मदद' भ्रष्ट व्यवस्था में आदमी की निरीह स्थिति को व्यंजित करती है। स्वेच्छा से कुछ भी करना उसके वश में नहीं। सभी कुछ जान लेने के बाद, अन्याय और अत्याचार के कारणों का पता चल जाने पर ही आदमी क्या कर सकता है? 'मैं खून देखता हूँ और न मुझे में इन्सानियत भड़कती है, न मर्दानगी। मुझे सिर्फ सिगरेट की तलब लगती है।

आखिर मैं पाता हूँ कि मेरी माचिस अभी तक गीली है।' बेवजह मरते हुए आम आदमी के लिए सार्थक हो पाने की कहीं कोई गुंजाइश नहीं दिखती। विभुकुमार की कहानी 'सही आदमी की तलाश' भी गलत व्यवस्था में पिस रहे आम आदमी की यातना को उभारती है: 'एक आदमी गलत व्यवस्था के, गलत लोगों के लात-घूसों से पीटा जा रहा है और भीड़ देख रही है।' राजनीतिक चक्र उसे भीतर तक काटता चला जाता है। इन कहानियों में निरीहता और लाचारी का एक साझा संवेदनात्मक बोध है जिसकी प्रामाणिकता के सम्बन्ध में कोई संदेह नहीं किया जा सकता। पर, इस बोध के पीछे तिलमिला देने वाले विचार या विचार की पैनी धार का अभाव है।

इधर के कथाकार इस अभाव को दूर करने का प्रयत्न कर रहे हैं। सतीश जमाली और इसराइल की कहानियों में इसे देखा जा सकता है। सतीश जमाली की कहानियों का प्रमुख स्वर व्यवस्था-विरोधी ही है। अमानवीय स्थितियों को झेलते हुए भी, मानवीय सरोकार को खत्म न होने देने का संकल्प, इन कहानियों की विशेषता है, यद्यपि अतिनाटकीयता और चमत्कारी वृत्ति ने इनकी कुछ कहानियों को नुकसान भी पहुँचाया है। 'आवाज़' कहानी का प्रारंभिक अंश मैलोट्रोपिक जरूर हो गया है जिससे कि व्यवस्था की चालों, चालाकियों, पद्धतियों-प्रकारों और साजिशों का यथार्थ चित्रण नहीं हो सका है। यह चित्रण अवास्तविक और काल्पनिक सा लगता है। पर इसके बाद स्थिति में जुड़े भयानक संदर्भ खुलते गये हैं। चेतनकुमार का दामाई संवाद व्यवस्था की नृशंस शक्ति को जतलाता है: 'तो क्या होगा? अरे हमारे पीछे मैंनेजमेंट है। मैंनेजमेंट के पास कगोड़ों रुपया है। और पुलिस, तुम जानते हो, कुत्तों से भी बदतर है।' ऐसी ही व्यवस्था की चुनौती देता है कहानी का 'मैं'-स्टाफ की यूनियन बनाने का प्रयत्न करने पर व्यवस्था के वक्र-दृष्टि डालते ही उसके सभी साथी, शर्मा, रामकुमार, कुन्दनलाल सहनी, अमरनाथ सीकरी उससे अलग हो जाते हैं। उसे व्यवस्था द्वारा प्रलोभन दिये जाते हैं पर वह विद्रोह के रास्ते को चुनता है। उसे काली कोठरी में डाल दिया जाता है। मौत के ठीक आमने-सामने होते हुए भी उसे ख्याल आता है कि वह बोल तो सकता है, आवाज़ तो दे सकता है, उसकी आवाज़ को गुंजने से कौन रोक सकता है। उसे लगा आवाज़ ही जिन्दगी की धड़कन है। 'मैं' की यह आवाज़ मानव-विरोधी व्यक्तियों के विरुद्ध मानवीयता की पक्षधर है। वह जानता है कि मध्यवर्गीय समझौतापरस्त संस्कार इस आवाज़ के कारगर बनने में बाधक हो सकते हैं। कहानी की अन्तिम पंक्तियाँ हैं: 'मुझे हैरानी हुई कि मेरा खून इतना मीठा कैसे हो गया? मेरा खून अगर इतना ही मीठा होता तो क्या मैं सिन्हा की बात न मान गया होता? नहीं, नहीं, यह मेरा खून नहीं था। अच्छा हुआ यह

मेरे शरीर से निकल गया। इस विचार से मुझे बेहद खुशी हुई। वास्तविक खुशी। और मैंने दूने जोश से बोलना शुरू कर दिया। 'मैं' की संकल्प चेतना और आदमीयत की पहचान में जुटने वाली उसकी योग्यता को यह कहानी, निस्संदेह खोलती है।

इसरायल की कहानियों में आज के मजदूर—जीवन की स्थितियों, संघर्षों, प्रतिगंधों और निर्णयों का जितना प्रामाणिक बोध जगता है, उतना जनवादी कहे जाने वाले अन्य किसी कहानीकार में नहीं। इस बात को उनकी कहानियों का कथ्य ही प्रमाणित नहीं करता, भाषा, प्रस्तुतीकरण और व्यौंगों का संयोजन भी इसकी गवाही देता है। यहाँ न सतीश जमाली जैसी नाटकीय मुद्राएँ हैं और न रमेश उपाध्याय जैसी स्फूर्ति और कथामोह। उनकी 'फर्क' कहानी इस दृष्टि से देखी जा सकती है। कहानी के प्रारंभिक व्यौंगों से ही स्थिति उभरनी शुरू हो जाती है और संघर्ष की दिशा का बोध जगने लगता है। वास्तविक स्थितियों में लिपटी हुई हिंसा—अहिंसा की अन्तर्विरोधपूर्ण और पाखंडपूर्ण हरकतों और दुष्क्रमों के संकेत इन व्यौंगों के माध्यम से मिलने शुरू हो जाते हैं। जमींदारों की हिंसक हरकतों के सामने चुप्पी साध लेने वाले और हिंसा पर उतारू किसानों को अहिंसा का संदेश देने वाले भूदानी नेता बेनी बाबू के चरित्र को गांव के बड़े बूढ़े भले न जाने, गांव के लड़के उन्हें अच्छी तरह जानते—पहचानते हैं। भगलू बंटाईदार का लड़का विशु और उसके साथी यह जान चुके हैं कि ग्रामदान और अहिंसा की ये सारी नीतियाँ और चालाकियाँ भूदानियों, जमींदारों और नेताओं की ओर से उन्हें फाँसने, प्रताड़ित और शोषित करने के लिए हैं। वे महसूस करते हैं कि एक वियाट् दानवीय षड्यन्त्र उनके खिलाफ चल रहा है। इस षड्यन्त्र के विरुद्ध संघर्ष के लिए वे तत्पर हो जाते हैं। वे बजरु चरवाहे को अपना नेता चुनते हैं जो साफ—साफ कहता है: 'हम किसी को मारने नहीं जा रहे हैं, लेकिन हमें कोई मारने आयेगा तो हम उसे छोड़ेगे भी नहीं।' यह सक्रिय और संशस्त्र संघर्ष की शुरुआत है जो दिनोंदिन तीव्रतर होता जाता है। संघर्ष के तीव्र होने के साथ बेनिया बाबू का गठिया का दर्द भी तेज होता जा रहा है। उन्हें लगता है कि 'विशु के आन्दोलन के घटाव—बढ़ाव के साथ उनके गठिया के दर्द का सम्बन्ध हो गया है।' इस दर्द के मारे वे जिस अस्पताल में पड़े हैं, उसी में संघर्ष में जख्मी पड़े दर्द से कराहते किसान भी पड़े हैं। और यहीं पर कहानी के अन्त में यह टिप्पणी है : 'एक दर्द अहिंसक है, और दूसरा हिंसक।' सामाजिक स्थितियों की निर्मम परख और पड़ताल द्वारा ही इस दंग का निर्मम वैचारिक गचना—विधान अर्जित किया जा सकता है जो विचार को अमल और सक्रिय कार्यवाही का हिस्सा बना देता है।